



## अलौकिक रत्यादि की रसरूपता

शोधार्थी, गीता यादव

संस्कृत विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सुरजनदास स्वामी ने अपने ग्रन्थ रससिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा में अलौकिक रत्यादि की रसरूपता का वर्णन किया है। जो इस प्रकार से है – अभिनवगुप्त ने विभावादिसाधारण्य के द्वारा सामाजिक के हृदय में विभावादिचर्वणा के समय ही उत्पन्न हुए संस्काररूप चर्व्यमाण अलौकिक रत्यादि को या उनकी चर्वणा को ही रस स्वीकार किया है। भट्टलोल्लटादि की तरह लौकिक रत्यादि स्थायीभावों को रस नहीं माना। किन्तु इनका मत “नानाभावाभिव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः। (नाट्यशास्त्र, पृ० 289) तथा “नानाभावोपगताः अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति” (नाट्यशास्त्र, पृ० 288)

इन कथनों से स्थायी भावों के आस्वादन को रस बतलाने वाले भरत के मत से विरुद्ध प्रतीत होता है। इस विरोध का परिहार अभिनवगुप्त ने इस कथन के द्वारा कर दिया है – “नानाभावोपगताः नानाभूतैर्विभावादिरूप समीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीवितं रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते।” (अभिनवभारती, पृ० 288) अर्थात् भरत ने जो स्थायिभावों में रस्यमानतारूप रसत्व बतलाया है, वे लोक में रत्यादि स्थायी कहलाते हैं, अतः उन्हें स्थायी कहा है। किन्तु सामाजिकों के हृदय में संस्कार रूप में विद्यमान तथा साधारणीकृत विभावादि द्वारा साधारणीकृत रूप से प्रतीयमान अलौकिक रत्यादि ही सहृदयों द्वारा रस्यमान होकर रस बनते हैं। रस्य— मानतादशा में तो विभावादिचर्वणासमकाल में ही उनका उदय होता है न कि पूर्वापर काल में उदय होता है। अतः रस को स्थायी कहना संभव नहीं है। इसलिए ‘विभावानुभावव्यभिचारि— संयोगाद्रसनिष्पत्तिः’ इस सूत्र में भी ‘स्थायिनो रसनिष्पत्तिः’ कहकर स्थायी उपादान नहीं किया गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब भरत मुनि को स्थायिभाव का रसत्व स्वीकार नहीं है, इसलिए उन्होंने रससूत्र में स्थायी का उपादान नहीं किया तो ‘नानाभावोपगताः स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति’ तो इसमें स्थायी का उपादान क्यों किया गया ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि लोक में रति आदि स्थायिभावों के जो कारण, कार्य व सहकारिकारण रूप से प्रसिद्ध तत्त्व हैं वे ही काव्य व नाट्य में उपनिबद्ध होने पर साधारणीकृत होकर विभावनादि व्यापारों के द्वारा विभाव आदि शब्द से कहे जाते हैं तथा उन्हीं से सामाजिक के हृदय में वासनारूप से विद्यमान साधारणीभाव अलौकिक रत्यादि का उद्बोध होता है। इसी अभिप्राय से ‘स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति’ यह कहा गया है।<sup>1</sup>

<sup>1</sup> ‘केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसभूत इति। औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगिता विभावादित्वावलम्बनात्।’ अभिनवभारती, पृ० 284



किन्तु लौकिक रत्यादि स्थायीभाव को तथा रसरूपता को प्राप्त करने वाले सहृदयहृदयानिष्ठ अलौकिक रत्यादि भाव बिल्कुल अलग है। इनकी भिन्नता का विवेचन भक्तिरसायन में इस प्रकार से किया है –

**‘काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्याः स्थायिनः सन्ति लौकिकाः।**

**तद्बोद्धुनिष्ठास्त्वपरे तत्समा अप्यलौकिकाः।।’** (भक्तिरसायन, 3:4)

अर्थात् काव्य में राम आदि आश्रयों में निरूपित किये जाने वाले रति आदि भाव लौकिक हैं किन्तु उसके रसास्वादन के समय सहृदयों में जो संस्काररूप रति आदि जो भाव उत्पन्न हैं, वे अलौकिक हैं।

अब एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि रसों से विभावादि भावों की निष्पत्ति होती है या विभावादि भावों से शृंगारादिरसों की निष्पत्ति होती है ? अथवा रसों से भावों की और भावों से रसों की इस प्रकार परस्पर निष्पत्ति होती है ? इन तीनों पक्षों में से द्वितीय पक्ष का प्रतिपादन तो ‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः’ इस सूत्र के द्वारा कर दिया गया है। किन्तु लोक में रति आदि के जो कारण, कार्य व सहकारिकारण हैं उनमें विभाव आदि रूपता तभी आती है जब वे रसप्रतीति के उपयोगी होते हैं। अतः यहाँ प्रथम पक्ष सिद्ध होता है कि रस विभाव आदि भावों की निष्पत्ति के कारण होते हैं। विभाव आदि भावों में रस की उपयोगिता के कारण ही विभावादि— रूपताप्रतिपत्ति होती है। अब तीसरे पक्ष के अनुसार रसों से भावों की तथा भावों से रसों की परस्पर निष्पत्ति मानने से परस्परश्रयदोष आ जाता है। क्योंकि यदि रसनिष्पत्ति हो तो रस उपयोगी होने से कारणादि में विभावादिरूपता की प्रतिपत्ति होती है और जब विभावादिरूपता की प्रतिपत्ति होती है तब विभावादि भावों से रस की निष्पत्ति होती है इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होने से न तो रसों से भावों की और न विभावादिभावों से रसों की निष्पत्ति बन सकती है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्योन्याश्रित कार्यों की सिद्धि नहीं होती ?

रससूत्र में इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि विभावादिभावों के संयोग के रस की निष्पत्ति होती है और लोक में प्रमदादि आलम्बनविभाव, ऋतुमाल्यादि उद्दीपन विभाव, कटा भेजाक्षेपादि अनुभाव तथा लज्जा, उत्सुकता, धैर्य आदि संचारी भाव प्रसिद्ध हैं और इनके ज्ञान के लिए रसप्रतीति की आवश्यकता नहीं है। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। विभाव आदि रस को उत्पन्न करते हैं इसलिए उन्हें भाव कहा जाता है। निम्न श्लोक में भी यहीं बतलाया गया है यथा –

**भावाभिनयसम्बन्धात् भावयन्ति रसानिमान्।**

**यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः।।**

**नानाद्रव्यैर्बहुधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।**

**एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह।।** (नाट्यशास्त्र, पृ० 263)

अतः यह सिद्ध होता है कि रस कभी भावरहित नहीं होता अर्थात् भावों के बिना कभी रस की निष्पत्ति नहीं होती है।

इस पक्ष में पुनः शंका होती है कि जैसे रस की सिद्धि भावों के बिना नहीं हो सकती वैसे ही भावों की उत्पत्ति भी रस के बिना नहीं हो सकती। क्योंकि प्रमदादि में विभावादिरूपता तो लोक में



प्रसिद्ध नहीं है। लोक में तो प्रमदादि में कारणत्व ही प्रसिद्ध है। विभाव आदि रूप की सिद्धि तो उनमें रस उपयोगी होने से ही होती है। अतः विभाव आदि से रस की सिद्धि तथा रस की उपयोगिता से विभाव आदि रूप की सिद्धि से अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति ही है। इस दोष को दूर करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि अन्योन्याश्रय दोष तभी हो सकता है जब रस की सिद्धि विभाव आदि से हो और विभाव आदि की रस से हो। रस आदि की सिद्धि के लिए प्रमदादि का अस्तित्व कारण, कार्य और सहकारिकारण रूप से इस लोक में प्रसिद्ध है, उनकी सिद्धि रस से नहीं हो सकती। अतः उनसे रस की सिद्धि बन जाती है। इसी तथ्य को अभिनवगुप्त ने 'अभिनये साक्षात्कारे सम्पन्ने तदुपयोगितया विभावादिशब्दव्यपदेशः' (अभिनव भारती, पृ० 293) इस कथन के द्वारा किया है अर्थात् रस के हेतु प्रमदादि कारणों की सिद्धि लोक में प्रसिद्ध है, उनकी सिद्धि के लिए रस की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु रस का साक्षात्कार हो जाने पर उन प्रमदा आदि में रस उपयोगी होने के कारण विभाव आदि शब्दों का व्यवहार हो जाता है।

इसी को अभिनवगुप्त ने व्यंजन औषधि संयोग व अन्न तथा तन्तुपट के उदाहरण से और अधिक स्पष्ट किया है। व्यंजन औषधिसंयोग से अन्न में स्वादु और अन्न, व्यञ्जन आदि में स्वाद उत्पन्न करता है तो अन्योन्याश्रय दोष होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है, व्यंजनादिसंयोग अन्न में आह्लदजनक रस को उत्पन्न करता है और अन्न व्यंजन आदि में रसवत्ता उत्पन्न न करके, उसका आश्रय बन कर व्यञ्जन आदि में रसव्यञ्जकत्व उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः यहाँ पर रस उत्पादकता व रसव्यञ्जकत्व योग्यतारूप क्रिया के भेद के कारण यहाँ पर अन्योन्याश्रय नहीं है। एक ही स्थान में एक ही समय एक ही क्रिया की परस्पर जनकता होने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में पट की सिद्धि तन्तुओं से तन्तुओं की सिद्धि पट से होती तो अन्योन्याश्रय दोष होता है, किन्तु ऐसा नहीं है। तन्तु पट की सिद्धि से पहले विद्यमान है अतः तन्तुओं की सिद्धि के लिए पट की अपेक्षा नहीं है। किन्तु उन तन्तुओं में से ये तन्तु पट के कारण है – इस व्यवहार की सिद्धि पटरूप कार्य से होती है। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। इसी प्रकार रस की सिद्धि के लिए आवश्यक प्रमदा आदि की सिद्धि रस से पूर्व लोकप्रसिद्धि से ही विद्यमान है। इनकी सिद्धि के लिए रस की कोई अपेक्षा नहीं है। किन्तु रस के कारणभूत प्रमदा आदि में विभाव आदि की सिद्धि के लिए रस की अपेक्षा होती है। क्योंकि रस की उपयोगिता के कारण ही उन प्रमदा आदि कारणों में विभाव आदि का व्यवहार होता है। अतः यहाँ पर भावों से रस की सिद्धि और रस से भावों की सिद्धि का अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। यदि रस के कारणभूत प्रमदादि की सिद्धि तथा प्रमदादि कारणरूप भावों से रस की सिद्धि – इस रूप से एक ही सिद्धिरूप क्रिया के लिए रस और भावों की परस्पर अपेक्षा होती तो अन्योन्याश्रय दोष होता है। किन्तु यहाँ क्रियाभेद है क्योंकि प्रमदादि कारणों से रससिद्धिरूप क्रिया निष्पन्न होती है और रस से प्रमदादि कारणों की सिद्धि न होकर उनमें विभाव आदि व्यवहार होता है। अतः सिद्धि तथा व्यवहाररूप



से भिन्न क्रियाओं के दोनों में होने से एक क्रिया की निष्पत्ति में परस्पर की अपेक्षा नहीं है। इसलिए यहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं है।<sup>2</sup>

यदि इस प्रकार से भावों से रसनिष्पत्ति होती है तो रस के बिना किसी भी नाट्यविषय की प्रवृत्ति नहीं होगी<sup>3</sup> – तो भरतमुनि के इस वाक्य की सिद्धि कैसे होगी और यदि भाव रस से पूर्ववर्ती हैं तो 'रसा भावा अभिनयाः' (नाट्यशास्त्र 6.20) में भावों का वर्णन पहले करना चाहिए था और आगे भी रसों के वर्णन से पहले भावों का वर्णन करना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं किया गया यह इसका उत्तर देते हुए आचार्य भरत कहते हैं कि जैसे वृक्ष से ही फूल व फल की उत्पत्ति होती है किन्तु वृक्ष का मूल भी बीज है। उसी तरह सामाजिक में रसप्रतीति का मूल कविगत रस है अर्थात् उस समय कवि उन अर्थों की देशकाल व्यक्ति विशेष सम्बन्धकृता से प्रतीति नहीं करता है बल्कि साधारणता से करता है और वह साधारणीभूत संवित ही कविगत रस है। कवि का हृदय जिस रस से परिपूर्ण हो जाता है तो वह सम्पूर्ण विश्व को भी उसी रस से परिपूर्ण ही देखता है। इस प्रकार कवि के हृदय के रस से परिपूर्ण हो जाने पर वही कवि के काव्य का कारण बनती है और काव्य में भी वह व्याप्त रहती है। काव्यरूप में परिणत उसी कवि की रसप्रतीति से सामाजिक को भी रसप्रतीति होती है। इस प्रकार कवि से प्रारम्भ करके सामाजिक तक एक ही रसप्रतीति व्याप्त होती है। तत्पश्चात् रस से भावों की प्रतीति होती है। उस विभाव आदिरूप भावप्रतीति का मूल रसप्रतीति है। इसी विचार से सबसे पहले मूलभूत रसों का निर्देश किया है उसके पश्चात् भावों का निर्देश किया गया है। इसलिए आचार्य भरत ने भी कहा है –

‘यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं तथा ।

तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावाः प्रकीर्तिताः ।।’

(नाट्यशास्त्र, अध्याय-6, कारिका 38)

इसी को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने कहा है कि कवि को जो सामाजिक के समान बताया है उसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सामाजिक काव्यशब्दों के द्वारा प्रतीयमान अर्थों की साधारणीकरण के द्वारा प्रतीति करता है तभी रस की अनुभूति होती है, उसी प्रकार जब कवि लोक की अनुभूति से प्राप्त लौकिक अर्थों का साधारणता से प्रतिपादन करके साधारणीभाव से प्रतीति करता है तभी उसे रसास्वादन होता है और कविगत रसप्रतीति का जो सामाजिक में संक्रम बतलाया है उसका भी तात्पर्य यह है कि कवि जब लोक के अनुभवों से प्राप्त अर्थों का साधारण प्रक्रिया से ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे रसप्रतीति होती है। जब उस साधारणीभूत प्रतीति से कवि हृदय व्याप्त हो जाता है तब कविगत रस काव्य में भी व्याप्त हो जाता है। कविगत रसप्रतीति का उच्छलन ही काव्य है। कवि

<sup>2</sup> एतदुक्तं भवति एकत्रैकदैक – क्रियायामन्योन्याश्रयत्वं दोषो न तु क्रियाभेदे। यथा व्यंजनौषधि-संयोगेनान्नस्याह्लादिरसवत्ता क्रियते। अत्रेन चाश्रयरूपेण सता व्यञ्जनौषधिसुखयोग्यता क्रियते। एवं भावै रस्यमानता। रसैश्च विभावादिव्यपदेश्यता कारणादीनाम्। यथा पटापेक्षया तन्तवः पटकारणमिति व्यपदेश्याः। तन्त्वपेक्षया पटः कार्यः। न चेतरेतराश्रयत्वं, तथा प्रकृतेऽपि।

(अभिनवभारती, पृ० 293-294)

<sup>3</sup> ‘न हि रसादृते काश्चेदर्थः प्रवर्तते।’ – नाट्यशास्त्र, भरतमुनि



में ही यह सामर्थ्य है कि वह सामाजिक में साधारणीकरण प्रक्रिया द्वारा उसे रसप्रतीति करा सकता है। कवि जिन अर्थों का सामाजिक में प्रेषण करता है वे अर्थ लौकिक नहीं है बल्कि साधारणीभाव द्वारा अलौकिक अर्थ है। उन अर्थों को प्रेषण का माध्यम काव्य या नाट्य है। काव्य को कवि व्यापार के द्वारा तथा नाट्य को अभिनयव्यापार के द्वारा कवि उन अर्थों का सामाजिक में प्रेषण करता है। अतः काव्य के अध्ययन से तथा नाट्य के दर्शन से सामाजिक में साधारणीकरण द्वारा कविगत साधारणीभूत रसप्रतीति की सजातीय साधारणीभूत संविद्रूप रसप्रतीति का प्रेषण उत्पन्न हो जाता है जो कि सामान्य लौकिक शब्दों के द्वारा नहीं होता है। क्योंकि लौकिक शब्द लोक में अनुभूत व्यक्ति विशेष सम्बन्ध युक्त अर्थों का ही बोध करते हैं जबकि काव्यशब्द साधारणीभूत अलौकिक अर्थों का प्रेषण करते हैं जो कि रस की प्रतीति के मूल है। काव्यशब्द कवि की साधारणीभूत रसप्रतीति के उच्छन्न रूप है। अतः उनमें रसप्रतीति साधक अलौकिक अर्थों के बोधन का सामर्थ्य है, अन्य शब्दों में नहीं है।<sup>4</sup>

---

<sup>4</sup> 'बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितम्। तथा रसाः। तन्मूला हि प्रीतिपूर्विका व्युत्पत्ति (विभावादिप्रतीति) रिति।

कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्य—पुरस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित (कविगतसाधारणी—भूतसंवित्) परमार्थतो रसः। सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादि—प्रतीतिरिति प्रयोजनं नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च। तदेव मूलं बीजस्थानीयः' कविगितो रसः। कविर्हि सामाजिक—तुल्य एव। तत एवोक्तं 'शृंगारीचेत्कविः' इत्याद्यानन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। ततः पुष्पस्थानीयोऽभिनयादिर्नटव्यापारः। ततः फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।' (अभिनवभारती, पृ० 294)